सांस्कृतिक राष्ट्रवादः दीनदयाल उपाध्याय

डॉ० प्रवेश कुमारी
पोस्ट डॉक्टोरल फैलो (आई०सी०एस०एस०आर०)
राजनीति विज्ञान विभाग
चौ० चरण सिंह विश्वविद्यालय परिसर, मेरठ
ईमेलः pravesh019@rediffmail.com

सारांश

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के वाहक दीनदयाल उपाध्याय संस्कृति को राष्ट्रीयता का नियामक मानते हैं। इस बात से वे भलीभाँति परिचित थे कि भारत जिन समस्याओं से जूझ रहा है, उसके पीछे निहित कारण राष्ट्रीय पहचान की उपेक्षा है। इसलिए उनका मानना था कि पाश्चात्य संस्कृति का अनुकरण करने के बजाय अपनी संस्कृति पर गर्व करो। पाश्चात्य संस्कृति को वे राष्ट्र के विकास में बाधक मानते थे। राष्ट्रवाद का वह स्वरूप जो संस्कृति से जुड़ा या संचालित होता है सांस्कृतिक राष्ट्रवाद कहलाता है। भारतीय राष्ट्रवाद का अंग संस्कृति है इसी कारण इसका नाम सांस्कृतिक राष्ट्रवाद पड़ा। भारत में पश्चिमी दृष्टिकोण का राष्ट्रवाद कभी नहीं रहा। उसकी न कोई परंपरा होती है न कोई संस्कृति। जबकि सहस्रों शताब्दियों का अखंडित भारतीय इतिहास एक समंवयपूर्ण तथा सहिष्णु संस्कृति का साक्षी रहा है। आज यदि भारतीय संस्कृति का अध्ययन हो रहा है तो निश्चित ही इसका श्रेय दीनदयाल उपाध्याय को जाता है। अतः वर्तमान समय की प्रमुख आवश्यकता है कि भारत में एक संस्कृति को आधार बनाना चाहिए। इसी में भारत का अस्तित्व है। हम तभी संपूर्ण विश्व में गौरव और वैभव के साथ खड़े हो सकेंगे।

मूल बिन्दु

संस्कृति, राष्ट्रवाद, सांस्कृतिक संघर्ष।

Reference to this paper should be made as follows:

Received: 24.02.2022
Approved: 14.03.2022

डॉ० प्रवेश कुमारी

सांस्कृतिक राष्ट्रवादः दीनदयाल उपाध्याय

RJPP Oct.21-Mar.22,
Vol. XX, No. I,

pp.120-125
Article No. 15

Online available at *:*
https://anubooks.com/rjpp-2022-vol-xx-no-1

परिचय

सौलहवीं शताब्दी में यूरोपीय पुर्नजागरण के बाद मनुष्य ने विश्व विजय एवं प्रकृति विजय के अभियान संयोजित किए। जिसके कारण नए–नए भू–प्रदेशों पर यूरोपीय साम्राज्यों का निर्माण हुआ। पश्चिम के साम्राज्यवाद के माध्यम से पश्चिम का ज्ञान विज्ञान एशिया एवं अफ्रीका के देशों में पहुंचा। जिसके कारण इनकी चिंतन धारा प्रभावित हुई, परंतु एशियाई मानव साम्राज्यवाद के साथ साथ पश्चिम ज्ञान की प्रभुता को स्वीकार करना अपनी प्रतिष्ठा पर चोट समझता था। अतः उसने पश्चिम के ज्ञान–विज्ञान को नकारा। दीनदयाल उपाध्याय भारतीय राष्ट्रवाद की इसी धारा की उपज थे। आधुनिक राष्ट्रवाद का उदय अठारवीं शताब्दी में पश्चिमी यूरोप में हुआ। 19वीं शताब्दी में पूरी दुनिया में फैल गया। हालांकि राष्ट्रवाद स्वयं कोई प्रबल अवधारणा नहीं है। संस्कृत एवं हिंदी में इसका प्रचलन नेशनलिज्म के हिंदी रूपांतर के दृष्टिकोण से किया जाता रहा है। इसलिए अंग्रेजों से पूर्व के सहित्य का अवलोकन करने पर हमे राष्ट्र तो मिलता है, किंतु राष्ट्रवाद का दर्शन नहीं होता। अंग्रेजों के आने के बाद प्रचलित नेशनलिज्म की शर्त पर भारत में भी विभिन्न वादों के साथ–साथ राष्ट्रवाद प्रचलन में आया।

यूरोपीय राष्ट्रवाद

दीनदयाल उपाध्याय राष्ट्र को राजनीतिक नहीं वरन् सांस्कृतिक इकाई मानते हैं परंतु राजनीतिक स्वरूप से राष्ट्रीय अखंडता के प्रबल समर्थक है। मजहबी तथा राजनीतिक साम्राज्यवाद के खिलाफ जिस भू–सांस्कृतिक मानवतावादी राष्ट्रवाद की कल्पना की गयी थी वह तो संसार में कहीं भी साकार नहीं हुई। 'यूरोपीय राष्ट्रवाद' आकार ग्रहण नहीं कर सका। राष्ट्रीय इकाइयों को ही राष्ट्रीय राज्य मानने की प्रथा आज विश्व में है। राष्ट्रीय राज्यों की उत्पत्ति के विषय में दीनदयाल उपाध्याय लिखते हैं–

''रोम के साम्राज्यवाद के पतन के बाद तथा रोमन कैथोलिक चर्च के प्रति विद्रोह अथवा उसके प्रभाव में कमी के कारण युरोप में राष्ट्रों का उदय हुआ। यूरोप का पिछले एक हजार वर्ष का इतिहास इन राष्ट्रों के आविर्भाव तथा परस्पर संघर्ष का ही इतिहास है। इन राष्ट्रों ने यूरोप महाद्वीप के बाहर जाकर अपने उपनिवेश बनाए तथा दूसरे स्वतंत्र देशों को गुलाम बनाया। राष्ट्रवाद के उदय के कारण राष्ट्र और राज्य में एकता की प्रवृत्ति भी बढ़ी तथा 'राष्ट्रीय राज्य' का यूरोप में उदय हुआ। साथ ही रोमन कैथोलिक चर्च के केंद्रीय प्रभाव में कमी होकर या तो राष्ट्रीय चर्च का निर्माण हुआ या मजहब का। मजहबी गुरूओं का राष्ट्र में कोई विशेष स्थान नहीं रहा। इस प्रकार सेक्यूलर स्टेट की कल्पना का जन्म हुआ।''[1]

यूरोप में 'राष्ट्रीय राज्यों' का निर्माण 'बलकनाइजेशन' का परिणाम था, जो राष्ट्रवाद के पुरस्कर्ताओं को स्वीकार नहीं था। राष्ट्रवाद की कल्पना मूलतः राजनीतिक नहीं थी, परंतु 'राष्ट्रीय राज्य' की व्यवहारिक अवधारणा ने उसको राजनीतिक बना दिया।

पश्चिमी राष्ट्रवाद की अवधारणा को उपाध्याय ने विश्वशांति के प्रतिकूल विवेचित किया है। साथ ही उसमें विद्यमान राजनीतिक तत्त्व की भी आलोचना की है। सिद्धांततः 'राष्ट्र' की व्याख्या को संस्कृतिपरक मानते हुए भी वे एक एवं अविभाज्य 'राष्ट्रीय राज्य' के हामी थे। यूरोपीय पुनर्जागरण के समय कल्पित राष्ट्रवाद की यात्रा तो आगे नहीं बढ़ सकी। द्वितीय महायुद्ध के समय स्थापित हुई राजनीतिक इकाई को ही आजकल हम 'राष्ट्रीय राज्य' के नाते पहचानते हैं।[2]

आधुनिक समाज एवं राजनीतिशास्त्र के लिए राष्ट्र एक नवीन अवधारणा है जो पुनर्जागरण के बाद विकसित एवं परिभाषित हो सकी। राष्ट्रवाद की भावना मानव के भौगोलिक एवं सांस्कृतिक कारणों से सहज ही उत्पन्न हुई थी, लेकिन साम्राज्यवाद के प्रतिकार में उसका उद्भव हुआ तथा प्रतिक्रियावादी अधिष्ठान पाकर वह स्वयं साम्राज्यवाद का कारण भी बनी। विदेशी साम्राज्यवाद के खिलाफ स्वदेशी राष्ट्रवाद तथा स्वदेशी

बहुमतीय साम्राज्यवाद के खिलाफ संघीय एवं लोकतांत्रिक राष्ट्रवाद का उद्‌भव हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी में पश्चिम के विद्वानों द्वारा राष्ट्रवाद, राष्ट्रीय राज्य, नस्लवादी राष्ट्रवाद, क्षेत्रीय राष्ट्रवाद, संवैधानिक राष्ट्रवाद, उदारवादी राष्ट्रवाद, आध्यात्मिक राष्ट्रवाद तथा लोकतंत्रीय राष्ट्रवाद आदि विविधायामी राष्ट्रवादी व्याख्याओं का उदभव हुआ। जिसमें दो प्रकार के राष्ट्रवाद थे– आक्रामक, उदार। आक्रामक राष्ट्रवाद साम्राज्यवाद के खिलाफ उठकर स्वयं साम्राज्यवादी बन गया। उदार राष्ट्रवाद की अवधारणा 'जन' में सार्थक एकता की खोज का प्रयत्न है जो मानव की स्वतंत्रता, भातृत्व व समानता की रक्षक सिद्ध हो सके।[3]

विलियम एबेन्सटाइन का कथन इस संदर्भ में उद्धरणीय है– अठारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण से लेकर उन्नीसवीं सदी के मध्य तक राष्ट्रवाद मानवतावादी तथा लोकतंत्रवादी विचारों से संप्रेरित था। यह फ्रेंच, अमेरिकन, चेक, इटैलियन, आयरिश तथा पोलिश राष्ट्रवाद के प्रारंभिक दिनों की कहानी है। इसके विपरीत पिछले अस्सी सालों में राष्ट्रवाद, अब पृथकतावाद, असहिष्णुता, कट्टरता, अल्पसंख्यकों का उत्पीड़न, नस्लवाद और अंततः साम्राज्यवाद व आक्रमणों से संबद्ध हो गया है। अखिल जर्मनवाद, जापानी सैन्यवाद, फांसीवाद और अब साम्यवादी साम्राज्यवाद इसी बात के प्रमाण हैं।[4]

राष्ट्रवाद से संबंधित बहस में राष्ट्र के संस्कृति अधिष्ठान की भी पर्याप्त चर्चा रही है। मानवतावादी राष्ट्रवाद के मैजिनी के द्वारा 19 सूत्र लिखे गए। जिनमें सत्रहवाँ सूत्र इस प्रकार है–

प्रत्येक जन का अपना जीवन लक्ष्य होता है। सामांयतः स्वीकृत मानवीय जीवन की संपूर्ति में जो सहयोगी होता है वह जीवन लक्ष्य ही उसकी राष्ट्रीयता का निर्माण करता है। राष्ट्रीयता पवित्र होती है।[5]

अर्नेस्ट रीनाँ के अनुसार– राष्ट्र की नस्ल, भाषा, मजहब, भू–क्षेत्र एवं वर्गीय संबंधी अवधारणाओं का खंडन करते हुए कहते हैं कि राष्ट्र एक आध्यात्मिक सारतत्त्व है। इसके दो मुख्य तत्त्व हैं संबद्ध परंपरा की स्मृतियों का साझापन तथा समझौतापूर्वक तथा साथ रहने और जीने की बलवती इच्छा।[6]

दीनदयाल उपाध्याय अपने सिद्धांत एवं नीति प्रलेख में लिखते हैं ''प्रत्येक राष्ट्र की अपनी विशेष प्रकृति होती है जो ऐतिहासिक एवं भौगोलिक कारणों का परिणाम नहीं होती अपितु जन्मजात है। इसे चिति कहते हैं राष्ट्रों का उदयमान चिति के अनुकूल एवं प्रतिकूल व्यवहार पर निर्भर करता है। चिति स्वयं को अभिव्यक्त करने तथा व्यक्तियों को पुरूषार्थ के संपादन की सुविधा प्रदान करवाने के लिए अनेक संस्थाओं को जन्म देती है। संघ, संपत्ति, जाति, वर्ण, पंचायत इसी प्रकार की संस्थाएं हैं।[7]

यूरोप के विद्वज्जनों द्वारा दी गई राष्ट्रभाषा विषयक परिभाषाएँ भी तत्वतः संस्कृति मूलक है। परंतु राष्ट्र राज्य की अवधारणा ने इसे फांसीवाद व नाजीवाद से जोड़ दिया। राष्ट्र राज्य अवधारणा ने यूरोप को बाँटा, युद्ध नियोजित किए तथा उपनिवेशवाद का वैश्विक अध्याय रचा। जिसके कारण पाश्चात्य राष्ट्रवाद विश्वशांति का दुश्मन बन गया। यह निश्चित है कि बीसवीं शताब्दी में विकसित राष्ट्रवाद पर इसका खूब प्रभाव है। मैजिनी द्वारा प्रतिपादित प्रत्येक जन का 'विशेष जीवनोद्देश्य' उपाध्याय के 'चिति' तथा रीनाँ का 'आध्यात्मिक सारतत्त्व' विराट अवधारणा के निकट दिखाई देता है।

भू–सांस्कृतिक राष्ट्रवाद

भारतीय राष्ट्रवाद को उपाध्याय जी मौलिक अवधारणा मानते हैं जबकि पश्चिमी राष्ट्रवाद को प्रतिक्रिया की उपज। भारत के मौलिक एवं प्राकृतिक राष्ट्रवाद को वे हिंदु राष्ट्रवाद कहते हैं। राष्ट्र राज्य की स्थापना से पूर्व राष्ट्र सांस्कृतिक इकाइयाँ ही थी। उपनिवेशवाद से पूर्व राष्ट्रों की सीमाएं सेना मुक्त थी। राष्ट्र राज्य की कृत्रिम स्थापना ने सेनाओं से घिरी सीमाओं का निरूपण किया। वर्तमान काल में पहुँची इन स्थितियों को समझते हुए परम पूज्य श्री गुरूजी (माधवराव सदाशिव गोलवलकर) ने दो प्रकार के राष्ट्रवादों का विवेचन किया है। प्रथम

भू–सांस्कृतिक राष्ट्रवाद दूसरा क्षेत्रीय राष्ट्रवाद। भू–सांस्कृतिक राष्ट्रवाद मानवीय है, वसुधैव कुटुंबकम् का सृजक है, जबकि क्षेत्रीय राष्ट्रवाद साम्राज्यवाद का समर्थक है। उपाध्याय जी क्षेत्रीय राष्ट्रवाद की कल्पना का विरोध एवं भू–सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का समर्थन करते हैं।[8] क्षेत्रीय राष्ट्रवाद के वे उग्र विरोधी थे क्योंकि कोई व्यक्ति देशज होने से राष्ट्रीय नहीं होता। राष्ट्रीय होने के लिए संस्कृति को मानने वाला होना जरूरी है।

दीनदयाल उपाध्याय भारत को प्राचीन काल से ही भौगोलिक एवं सामान्य रूप से एक राष्ट्र मानते हैं। वैदिक सूत्रों में राष्ट्र की विजय समृद्धि एवं उत्थान की कामना की गई है। स्वास्तिवाचन में भी राष्ट्र शब्द का व्यवहार होता है। अतः हम पहले से ही एक राष्ट्र हैं। हमारे वेदों में एक प्रिय उद्घोष है युगों से हमारे सामने इसका स्पष्ट स्वरूप रहा है 'आसेतुहिमालय'। विष्णुपुराण में इसको–

उत्तर यत्समुद्रस्य हिमाद्रेष्चैव दक्षिणम्।
वर्ष तद् भारतं नाम भारती यत्रं संतति।।[9]

अर्थात पृथ्वी का वह भाग जो समुद्र से उत्तर और हिमालय के दक्षिण में है, भारत कहलाता है तथा उसमें रहने वाले निवासियों को हम उसकी संतान कहते हैं।

इसी प्रकार अथर्ववेद का पृथ्वी सूक्त इसको और अधिक विस्तार से समझाने का प्रयास करता है, वह कहता है कि– माता भूमि पुत्रोऽहम् पृथिवयः अर्थात भूमि माता है और हम इसके पुत्र हैं।[10] ये दो वाक्य संपूर्ण भावभूमि को स्पष्ट कर देते हैं। विष्णुपुराण के श्लोक में यदि कोई गुंजाइश बाकी भी रह जाती है तो अथर्ववेद का सूक्त उसे एकदम पूर्ण और स्पष्ट कर देता है। यानि यह भूमि माता है और इस भूमि पर जो भी जिस रूप में विद्यमान है वह भी मेरी माता यानि पृथ्वी का पुत्र है, इस प्रकार वह मेरा सहोदर ही हुआ। यह जो भाव निर्मित होता है वह किसी भी राष्ट्र की सामान्य इच्छा होती है। जब भारत परतंत्र था तब भी यह भाव सुरक्षित रहा और यही कारण है कि भारत में अंग्रेजों का शासन स्थापित होने के बाद भी भारत ने न तो राष्ट्रत्व का परित्याग किया और न ही संप्रभुता को त्यागा, क्योंकि भारत में राष्ट्र और संप्रभुता का संबंध राजनीतिक नहीं अपितु सांस्कृतिक है।

दीनदयाल उपाध्याय भारतीय संस्कृति के मूर्तिमान रूप थे, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के महत्त्वपूर्ण प्रवक्ता थे। उपाध्याय जी ने कहा कि सहस्रों शताब्दियों का अखंडित भारतीय इतिहास एक समंवयपूर्ण तथा सहिष्णु संस्कृति का साक्षी है। भारतीय संस्कृति ने मैत्री का दिव्य संदेश मानवता को प्रदान किया है। राष्ट्र की अवधारणा को वे अठारवीं उन्नीसवीं सदी की उपज नहीं मानते। उनकी मान्यता है कि यूरोप के संदर्भ में चाहे यह बात सही हो लेकिन भारत आदि काल से ही प्राचीन राष्ट्र है। भारतीय इतिहास को अविच्छन्द राष्ट्रीय परंपरा का प्रवाह मानते हैं।

पश्चिम में आज प्रगत माने जाने वाले राष्ट्र चार पांच सौ वर्षो से अधिक प्राचीन नहीं है। इन राष्ट्रों का भारतीय राष्ट्र की संस्कृति में हस्तक्षेप इतिहास में कलंक के रूप में है। इंग्लैंड, फ्रांस, पुर्तगाल आदि राष्ट्रों ने विदेशों में अपने साम्राज्य स्थापित करने का प्रयास किया। उन्होनें जहां लोगों को दासता में जकड़ा वहां उसका अत्यधिक शोषण भी किया। इस प्रकार पश्चिम में राष्ट्रवाद का उदय मानव के पारस्परिक समन्वय से नहीं संघर्ष से हुआ। किंतु भारत में राष्ट्रवाद का विचार कुछ सौ वर्षो का नहीं सहस्राब्दियों का है। उसका आधार आपसी संघर्ष नहीं समन्वय है एवं परस्परानुकूलता है। जिसमें प्राणीमात्र के प्रति कल्याण की भावना प्रकट होती है। इसलिए पश्चिम के राष्ट्रवाद से भारत के राष्ट्रवाद की तुलना करना गलत है।[11]

राष्ट्रीयता कोई कृत्रिम वस्तु नहीं है यह स्वाभाविक होती है। इस स्वाभाविक प्रवृति को ही भारतीय शास्त्राकारों ने चिति का नाम दिया है। जो चिति के प्रतिकूल है, उसे उपाध्याय जी विकृति कहते हैं। यह

संस्कृति शब्द राष्ट्रीयता का नियामक है। जब कोई प्रजातंत्र चिति वाला समाज आत्मदर्शन करता है तो उसे विराट् के दर्शन होते हैं विराट् समाज का शक्तिभूत तत्त्व है। दैशिक शास्त्रानुसार चिति से जाग्रत एवं एकीभूत हुई समष्टि की प्राकृतिक शक्ति विराट कही जाती है।[12] विराट् की इस प्राचीन अवधारणा को आधुनिकतम संदर्भ देने का प्रयास करते हुए उपाध्याय जी कहते हैं। जैसे राष्ट्र का अवलंबन चिति होती है। वैसे ही जिस चिति से राष्ट्र की धारणा होती है, उसे विराट् कहते हैं। विराट् राष्ट्र की वह कर्मशक्ति है जो चिति से जाग्रत और संगठित होती है। विराट् का राष्ट्र जीवन में वहीं स्थान है, जो शरीर में प्राण का। प्राण से ही इंद्रियों को शक्ति मिलती है, बुद्धि को चैतन्य प्राप्त होता है और आत्मा शरीरस्थ रहती है। राष्ट्र में भी विराट के सबल होने पर ही भिंन–भिंन अवयव अर्थात संस्थाएं सक्षम एवं समर्थ होती हैं। विराट के आधार पर ही प्रजातंत्र सफल होता है और बलशाली बनता है।[13]

दीनदयाल उपाध्याय एवं उनके भू–सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के वे ही लोग खिलाफ है, जो न भारत की चिति को समझते हैं और न ही विराट् को। जिन्हें सिर्फ पाश्चात्योद्भूत राष्ट्र राज्य की अवधारणा का ही ज्ञान है। राष्ट्र राज्य ने चिति एवं विराट को खंड–खंड कर दिया है। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद कोई राजनीतिक दुराग्रह नहीं है वस्तुतः वह हमारी चिति का स्वर है हमे अपने विराट को जाग्रत करना है। उपाध्याय जी ने अपने मुंबई के प्राख्यात भाषणों का समापन करते हुए आह्वान किया कि ''हमें अपने राष्ट्र के विराट को जाग्रत करने का काम करना है। अपने प्राचीन के प्रति गौरव का भाव लेकर वर्तमान यथार्थवादी आंकलन करें और भविष्य के प्रति महत्वाकांक्षा लेकर इस कार्य में जुट जाएँ। हम भारत को न तो पुराने समय की प्रतिच्छाया बनाना हैं और न ही रूस व अमेरिका की अनुकृति।[14]

दीनदयाल उपाध्याय को सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का चिंतन राष्ट्रीय श्रमसेवक संघ से विरासत में प्राप्त हुआ है। जनसंघ का प्रथम कानपुर अधिवेशन में उन्होंनें 'सांस्कृतिक पुनरूत्थान' शीर्षक से एक बीजभूत प्रस्ताव रखा। जिसमें क्षेत्रीय राष्ट्रवाद की कल्पना को नकारते हुए उन्होंने कहा–

राष्ट्रीयता के लिए केवल भौगोलिक एकता पर्याप्त नहीं। एक देश के निवासीजन एक राष्ट्र तभी बनाते हैं, जब वे एक संस्कृति के द्वारा एक रूप कर दिए गए हों। जब तक भारतीय समाज एक संस्कृति का अनुगामी रहा, तब तक अनेक राज्य रहते हुए भी वहाँ के जनों की एक मूलभूत राष्ट्रीयता बनी रही। परंतु जब से विदेशी शासकों ने अपने लाभ के लिए एकात्मकता को भंग कर विदेशपरक संस्कृतियों को इस देश में जन्म दिया है, तब से भारत की एक राष्ट्रीयता संकटापन्न हो गई। अनेक शताब्दियों तक एक राष्ट्र का घोष करते हुए भी मुस्लिम संप्रदायवादियों के द्विवराष्ट्र की विजय हुई, देश विभक्त हुआ और पाकिस्तान में गैर मुस्लिमों के लिए रहना असंभव कर दिया गया है। दूसरी ओर भारत में मुस्लिम संस्कृतियों को अलग मान उसकी संस्कृति और संवर्धन के कारण उसकी द्विवराष्ट्र वाली प्रवृत्ति का पोषण हो रहा है, जो राष्ट्र निर्माण के मार्ग में बाधक है।[15]

अतः भारत की राष्ट्रीयता के विकास एवं दृष्टिकोण हेतु यह नितांत आवश्यक है कि भारत में एक संस्कृति का पोषण हो और समाज के सभी घटकों में चाहे वह किसी धर्म के अथवा किसी भी प्रदेश के निवासी हों उसका प्रचार किया जाए और उसे मान्यता दिलाई जाए।

निष्कर्ष

भारतीय संस्कृति में रचे–बसे दीनदयाल उपाध्याय सदैव भारतीय दर्शन, संस्कृति, मूल्यों, परंपराओं में विश्वास करते थे। उनमें मानवता, सौम्यता, सहृदयता, अहंकार शून्यता और दार्शनिकता के भाव स्वतः स्फूर्त थे। उनकी सदैव यह मान्यता रही है कि विदेशियों की संस्कृति एवं नीतियों का अनुसरण कर भारत की प्रगति कभी संभव नहीं है। भारत की प्रगति भारतीय संस्कृति और यहां के प्राकृतिक परिवेश पर आधारित है। उनका मानना था कि संस्कृति साधारणतः किसी भी राष्ट्र की आत्मा होती है और कोई भी राष्ट्र तभी तक जीवित रह

सकता है जब तक उसकी आत्मा उसके अंदर विद्यमान है। भारत की आत्मा को अगर समझना है तो उसे राजनीति अथवा अर्थनीति के चश्मे से न देखकर सांस्कृतिक दृष्टिकोण से देखना होगा। संस्कृति किसी भी राष्ट्र के निर्माण व विकास का महत्त्वपूर्ण घटक है। भारतीय एकता एवं अखंडता एक संस्कृतिवाद से ही बनी रह सकती है। जिस प्रकार जनसंघ ने संस्कृति की रक्षा हेतु पावन कदम उठाया, जिसकी बागडोर दीनदयाल उपाध्याय ने संभालते हुए भारतीयों को इस मार्ग पर बढ़ने का आग्रह किया।

भारत में प्राचीन काल से एक ही संस्कृति की परंपरा चली आ रही है, क्योंकि यह एक जीवंत संस्कृति है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से विरासत में प्राप्त सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को आगे बढ़ाने का कार्य जिस प्रकार दीनदयाल उपाध्याय ने किया। इसकी रक्षा करना हमारा प्रथम कर्त्तव्य होना चाहिए। यदि हम ऐसा करने में असफल रहते हैं, निश्चत ही भारतीय संस्कृति का ह्रास होगा। अतः आवश्यकता है कि हम सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को समझकर उसे अपने जीवन में ग्रहण करें। यदि पश्चिमी राष्ट्रवाद की विभीषिकाओं से विश्व को बचाना है, इसके लिए आवश्यक है कि भारत के सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को सक्षम एवं मजबूत बनाकर खड़ा करना होगा। यहीं से विश्व के कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

संदर्भ

1. उपाध्याय, दीनदयाल. (2016). एकात्म मानववाद तत्त्व मीमांसा सिद्धांत विवेचन. प्रभात प्रकाशनः नई दिल्ली. **पृष्ठ 73.**
2. शर्मा, महेश चंद. (2018). पं. दीनदयाल उपाध्याय कर्तव्य एवं विचार. प्रभात पब्लिकेशनः दिल्ली. **पृष्ठ 199.**
3. उपरोक्त. **पृष्ठ 327.**
4. एबेन्सटाइन, विलियम. मार्डन पॉलिटिकल थॉट, ऑक्सफोर्ड एंड आई.बी.एच. पब्लिशिंग कंपनीः **पृष्ठ 741.**
5. मैजिनी, जूजेप. (1934). हुमैनिटेरियन नेशनलिज्म (फ्रॉम पैक्ट ऑफ क्रेटेरिनिटी ऑफ यंग यूरोप). (1905). रिप्रिंट लाइफ एंड राइटिंग ऑफ जुजेप मैजिनी–III. स्मिथ एल्डर एंड कंपनीः **पृष्ठ 751.**
6. रीनॉ, अर्नेस्ट. (1939). वाट इज ए नेशन? 1862 (ट्रांसलेटिड अल्फ्रेड ज़िर्मन. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस): **पृष्ठ 753.**
7. (1951–72). भारतीय जनसंघः घोषणाएं एवं प्रस्ताव, भाग–1 नई दिल्ली भारतीय जनसंघ, विट्ठल भाई पटेल भवन, सिद्धांत एवं नीतियां. **पृष्ठ 3–4.**
8. द्विवेदी, संजय. (संपादक). (2018). भारतीयता के संवाहक पं. दीनदयाल उपाध्याय. विजय प्रकाशनः नई दिल्ली. **पृष्ठ 6.**
9. (संवत 2067). विष्णुपुराण. गीता प्रेसः गोरखपुर. 39वाँ संस्करण का पुनर्मुद्रण, 2/3/1.
10. अथर्ववेद का पृथ्वी सूक्त, 12/1/1–63.
11. उपाध्याय, दीनदयाल. (2014). राष्ट्र जीवन की दिशा. लोकहित प्रकाशनः लखनऊ. **पृष्ठ 88–89.**
12. दैशिक शास्त्र, बद्रीशाह टुलधारिया, गौरीशंकर कैलाश अल्मोड़ा, हिमालय (उ.प्र.) चित्रशाला. प्रेस सदाशिव पैठः पूना. **पृष्ठ 61.**
13. दीनदयाल, गुरूजी. ठेगड़ी, एकात्म दर्शन. दीनदयाल उपाध्याय शोध संस्थानः नई दिल्ली. **पृष्ठ 16.**
14. उपरोक्त. **पृष्ठ 73.**
15. (1952). भारतीय जनसंघ राष्ट्रीय अधिवेशन कानपुर. पाञ्चजंय दिसंबर 31.